International Journal of Hindi Research
ISSN: 2455-2232
Impact Factor: RJIF 5.22
www.hindijournal.com
Volume 3; Issue 6; November 2017; Page No. 55-57

संस्कृति और सभ्यता के संदर्भ में काव्य की उपयोगिता

डॉ० रेखा
असिस्टेंड प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, श्रीमती रामदुलारी कॉलेज, ओल, मथुरा, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

मानवता के लिए जीवन में प्राण–तत्व की निदर्शनात्मक संयोजना सर्व स्वीकृत है। किसी भी देश और काल के हालातों से जीवन में गति प्रगति की संभावनाएँ सवंहक होकर विचारों व भावनाओं की पुष्कल स्वर धारा का उद्घोष करती हैं। प्रायः देखा जाता है कि जब कोई भी समाज अपनी विचार धारा को संकीर्ण या जड़ रूप में परिवर्तित कर लेता है, तब मानो उस समाज का पतन सुनिश्चित ही हो जाता है। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में समाज की उदात्तीकृत संचेतना के कुछ ध्वजवाहक उस समाज के विरूपण का खात्मा करने पर आमदा हो जाते हैं। यह ध्वजवाहक कोई अन्य नहीं बल्कि हिन्दी साहित्यकार है, जो निष्प्राण समाज में अपने काव्य के माध्यम से प्राण फूंकने का कार्य करते हैं। काव्य को जीवन की मुक्तावस्था कहा गया है। शनैः–शनैः समाज के मूल्य बदलने लगते हैं। जब उन सकारात्मक मूल्यों से राष्ट्र व समाज की प्राणवान चेतना प्रमुदित होती है, तब उस भावात्मक दशा को 'संस्कृति' कहा जाता है। ब्रह्मा की भाँति संस्कृति को भी अवर्णनीय माना गया है, जो अत्यन्त व्यापक एवं गंभीर अर्थ की बोधक है। शरीर और आत्मा की भांति सभ्यता और संस्कृति जीवन की दो भिन्न–भिन्न प्रेरणाओं को व्यक्त करती हैं। संस्कृति और सभ्यता भाववाचक संज्ञाएँ हैं। सभ्यता का क्षेत्र सीमित होता है जबकि संस्कृति विस्तृत मानव जगत की चेतना का संस्पर्श करती है। सभ्यता को सुसंस्कृत बनाने में काव्य की भूमिका असंदिग्ध रही है। संस्कृति जन समुदाय के आन्तरिक और वाह्य जीवन की झाँकी प्रस्तुत करती है, तो भावना के स्तर पर काव्य की मानव जीवन के आन्तरिक और वाह्य जीवन को शाब्दिक अभिव्यक्ति देता है।

हिन्दी काव्य में सभ्यता और संस्कृति के सह–सम्बन्ध पर अनेक लब्ध प्रतिष्ठित कवियों ने स्वर–संधान किया है। भारतीय संस्कृति में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना निहित रहती है। चूँकि हमारी संस्कृति में समस्त विश्व को प्रसन्न करने की सचेष्ट उद्यमशीलता है। जहाँ एक ओर पश्चिमी जगत स्वेच्छाचारिता तथा स्वच्छन्दता को अपनी संस्कृति मानता है, तो वहीं भारत केवल अपनी ही नहीं, अपितु विश्व की मंगल कामना उद्गीरित करता है। प्रतिष्ठित कविवर त्रिलोचन जी के विचार इस भावना को प्रतिपादित कर रहे हैं –

''केवल भारत नहीं विश्व का मानव जागे
फूले, फले, बढ़े, अपने मन का सुख पाए,
निर्भय होकर मुक्त राग गाए,
यों त्यागे ईर्ष्या द्वेष,
नयन पथ पर जितने मुख पाए
सब पर आत्मीयता लिखी हो।
यदि दुःख पाए तो उससे मार्गच्युत न हो, न आपा छोड़े
चाहे जैसे संकट अपने सम्मुख पाए,
हृदय एक शतदल है, सहसा उसे न तोड़े
जीवन की लहरों से, ममता रवि से जोड़े
वर्ण वर्ण जिसकी किरणों के चारू चरण हैं
स्पर्श–रूप–रस–गंध–शब्द जगते हैं थोड़े
बहुत स्वकीय गुणों से, सब तन्मात्र शरण हैं,
आपस का भय हटे, एक दूसरे से मिले,
घृणा दूर हो, हृदय–हृदय के ताल पर खिले।[1]

वैदिक संस्कृति में यज्ञों में पशु–बलि दी जाती थी। बौद्ध और जैन धर्म इसी की प्रतिक्रिया में अविभूत हुए। वेद द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड के प्रति लोगों में अनास्था का पल्लवन हुआ। उपनिषद साहित्य में जीवन की भावपूर्ण दशा का मार्मिक चित्रण है। उपनिषदों की प्रबुद्ध चेतना छान्दोग्योपनिषद् में निरूपित की गई है। नारद और सनत्कुमार के ज्ञानवर्धक प्रश्नसूचक संवाद इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। नारद प्रश्नकर्ता है और सनत्कुसार आचार्य की भूमिका में समस्याओं के समाधान कर्ता हैं। नारद समस्त शास्त्रों का अनुशीलन करने के बाद सनत्कुमार से पूछते हैं – संसार में शोक से पार करने का पथ प्रशस्त कीजिए। तब सनत्कुमार नाम की श्रेष्ठता का उद्घोष करते हैं। नाम से उनका अभिप्राय सम्पूर्ण वाड्मय से है। नाम के पश्चात् वाक्, वाक् के पश्चात् मन और अन्त में वे प्राण को ही सर्वश्रेष्ठ मानते है। 'छन्दोग्योपनिषद्' की यह ज्ञान चेतना भारतीय संस्कृति के गौरव बोध की प्रामाणिकता है। छान्दोग्योपनिषद से इसकी प्रामाणिकता को सिद्ध किया जा सकता है–

''सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्यविच्छुतँ – ह्येव में
भगवद्दहशेभ्यस्तरति शोकमात्यविदिति सोऽहं भगवः
शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयित्वति
तँ होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्।''[2]

भगवद्गीता का दर्शन भी हमारी भारतीय संस्कृति में समाहित है। जैसा कि सर्वविदित है – जीवन के पश्चात् मरण और मरण के पश्चात् जीवन सुनिश्चित है। आत्मा की शास्वत चेतना को अनेक कवियों ने स्वीकारा है। भगवान श्रीकृष्ण का दार्शनिक अनुबंध उनके विचारों का सर्वश्रेष्ठ रूप है। कविवर त्रिलोचन जी की यह पंक्तियाँ

''मौत यदि रूकती नहीं तो
जन्म भी रूकता नहीं है
एक क्षण यदि और है तो
दूसरा क्षण और कुछ है
रूप पल–पल पर बदलकर
और कुछ है और कुछ है
अखण्ड विधान जग में रंच भी झुकता कहां है।''[3]

निरन्तर कर्मशीलता का क्रमिक विकास हमारी संस्कृति की विलक्षणता है। गत्यात्मक चेतना से ही जीवन की उन्नति का पथ प्रशस्त होताा है। कर्मशीलता के पक्ष को प्रकाशित करने वाली सांस्कृतिक चेतना का स्वर त्रिलोचन जी के कथ्य को अनुरंजित करता हैः–

''पथ पर
चलते रहो निरन्तर
सूनापन हो
या निर्जन हो
पथ पुकारता है
गत–स्वन हो
पथिक
चरण ध्वनि से
दो उत्तर
पथ पर
चलते रहो निरन्तर।''[4]

आज की युवा पीढ़ी पर नजर डालें तो पश्चात् संस्कृति का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यूरोप के जीवन क्षेत्र की अशान्ति से उत्पन्न आध्यात्मिक क्षति, किसानों और मजदूरों की कशिश को अध्यापक पूर्ण सिंह ने लाक्षणिक शैली में कटाक्ष करते हुए कहा है –
''पश्चिमी ज्ञान से मनुष्य को लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा बाहरी सभ्यता की अंतवर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट – जो आज मनुष्य जाति ने पहन रखा है, यूरोप को कदापि प्राप्त न होता, यदि धन और तेज को एकत्र करने के लिए यूरोप निवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूरबी जगत ने इस महत्ता के लिए अपनी शक्ति से अधिक चन्दा देकर सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ जहाँ यूरोप का एक अंश अभ्यस्त प्रतीत होता है – कमीना और कायरता से भरा मालूम होता है – वहीं दूसरी ओर यूरोप के जीवन का वह भाग जहाँ विद्या और ज्ञान का सूर्य चमक रहा हैं, इतना महान है कि थोड़े ही समय में पहले अंश को मनुष्य अवश्य ही भूल जायेंगे। जब पैंगम्बर मुहम्मद ने ब्राह्मणों को चीरा और उनके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफिर में मोमिन किस प्रकार गुप्त था। जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दों को परे फेंककर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराये तो हिन्दू चकित हो गये कि वह नग्न करने व नग्न होने वाला उनका कौन सा शिव था।''[5]
भारत की सांस्कृतिक विरासत इतनी समृद्ध है कि पश्चिम की संस्कृति का आलोक उसके समक्ष तिमिर जैसा है। जैसे प्रकाश–रश्मियाँ अन्धकार को विदीर्ण कर जाज्वल्यमान आभा को संदीपित करती हैं, ठीक उसी प्रकार भारतीय संस्कृति की ज्ञान–प्रभा से पूरा विश्व आलोकित होता है। इस तथ्य की पुष्टि कविवर मैथिलीशरण गुप्त जी ने की है –

''है आज पश्चिम में प्रभा जो पूर्व से ही है गई,
हरते अँधेरा यदि न हम, होती न खोज नई–नई।
इस बात की साक्षी प्रकृति भी है अभी तक सब कहीं,
होता प्रभाकर पूर्व से ही, उदित पश्चिम से नहीं।।''[6]

नव जागरण भारतीय संस्कृति का अभिन्न तत्व रहा है। अपने पूर्वजों की संकल्पशीलता तथा महानता का गौरव गान हमारी संस्कृति का जय घोष है, जिससे न केवल अतीत का बोध होता है, बल्कि वर्तमान भी प्रमुदित–प्रफुल्लित होता है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने भारतीय संस्कृति के नवजागरण की ओर इंगित करते हुए लिखा है :–

''हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होगें अभी,
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्यायें सभी।
यद्यपि हमें इतिहास अपना प्राप्त पूरा है नहीं,
हम कौन थे, इस ज्ञान को, फिर भी अधूरा है नहीं।''[7]

भारतीय संस्कृति में परिवर्तन को स्वीकार किया गया है यहाँ प्रकृति भी परिवर्तन का जयघोष करती है। ऋतु–चक्र की प्रगति और परिवर्तन का बोध किसी से छिपा नहीं है। पराजित और हताशा की दशा में परिवर्तनवाद की मनः शक्ति हमें ऊर्जावान बनाती है। बड़े–बड़े भारतीय दार्शनिकों ने परिवर्तन की चेतना को प्रसारित किया है कविवर त्रिलोचन जी की कविता दार्शनिक अवबोध से आप्लावित करती है –

''परिवर्तन होते रहते हैं,
उन्हें न रोक सका है कोई
उसे न बांध सका है कोई
तुम परिवर्तन की गति समझो
तुम परिवर्तन को पहचानो
तुम परिवर्तन को अपनाकर
विश्व बना लो अपने मन का।''[8]

भारतीय संस्कृति में अत्याचारियों के दमन का भी स्वर मुखरित हुआ है, स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् में अपने व्यक्तित्व और कर्तव्य में यही प्रमाणित किया है। अत्याचारियों का वध करना–कराना श्रीकृष्ण के जीवन दर्शन का इतिहास है, जिसे द्विवेदी युगीन महाकवि नाथूराम शंकर शर्मा ने वर्णित किया है –

''पूतना को मार माया कंस को न मारते तो,
नीचता से कौन आततायी दुष्ट डरता।
भीम द्वारा पापी जरासन्ध को न चीरते तो,
कौन सदाचारियों के संकट को हरता।
कण्ठ शिशुपाल जालिया का न काटते तो,
कौन राज वृन्द का सभा पतित्व करता।
जन्म जो न होता न्याय नीति–पूर्ण कृष्ण का तो,
जिष्णु–भीरूता में गीता–ज्ञान कौन भरता।''[9]

हमारी भारतीय संस्कृति विश्व में शीर्ष पर है। हमारे यहाँ महर्षि पतंजलि, महर्षि कपिल, महर्षि वेद व्यास, महर्षि वाल्मीकि और महर्षि पाराशर जी की शास्वत प्रतिभा विचार चेतना विराजमान है। भगवान के अवतार भी हमारे देश में हुए हैं। श्रीराम, श्रीकृष्ण, भगवान शिव, ब्रह्मा, विष्णु के पवित्र नामों से यहाँ की संस्कृति सुव्यवस्थित होती रही है। इस संदर्भ में मैथिलीशरण गुप्त जी की निम्नलिखित पंक्तियों के साथ प्रसंग का समाहार किया जाता है –

''हाँ वृद्ध भारत वर्ष ही संसार का सिर मौर है,
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है?
भगवान की भवभूतियों को यह प्रथम भण्डार हैं।
विधि ने किया नर सृष्टि का पहले यहीं विस्तार है।''[10]

सन्दर्भ

1. दिगंत त्रिलोचन, साहित्यवाणी जी 28, पुराना अल्लापुर, इलाहाबाद–211006 द्विवीय आवृत्ति 1996, मूल्य पचास रू. मात्र, पृ0 58
2. 'छान्दोग्योपनिषद' गीताप्रेस गोरखपुर, सं0 2070 अठारहवाँ पुनर्मुदृण, मूल्य 120/– पृ0 673–674 सानुवाद शंक्ड़रभाष्य।
3. धरती त्रिलोचन, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण : 1977 पृ0 109
4. वही पृ0 37
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्रीप्रकाशन दिल्ली – 1100002 मूल्य 160 मात्र पृ0 350
6. धरती त्रिलोचन, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण : 1977 पृ0 7
7. 'हम कौन थे' मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन पो0आ0 चिरगाँव, झाँसी, चतुर्थ संस्करण : 200/– मूल्य : 25/–, पृ02
8. धरती त्रिलोचन, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण : 1977 पृ0 14
9. वैदिक गीतांजलि, नाथूराम शंकर शर्मा, सम्पादक : देशराज सिंह महाकवि शंकर शोध – संस्थान, हरदुआ गंज (अलीगढ़) संस्करण 2013 पृ0 73–74
10. 'हम कौन थे' मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन पो0आ0 चिरगाँव, झाँसी, चतुर्थ संस्करण : 200/– मूल्य : 25/–, पृ08